अनन्तर/जनसत्ता/३ दिसंबर, २००६

मुन्ना, जिन्ना और गांधी

ओम थानवी

एक पुरानी मसल है, खेल खेल की भावना से खेलो। मुश्किल यह है कि जिस भावना की गर्ज हो, हम कई दफा उससे उलट रास्ता अख्तियार करते हैं। जैसे यह कि फिल्म भी फिल्म की तरह नहीं देखते।

''लगे रहो मुन्नाभाई'' का खुमार अब जब उतार पर है, मुड़कर देखा जा सकता है कि कैसे एक विशुद्ध कॉमेडी को हमने उसके दायरे से दूर जाकर देखा। हालांकि किसी टीका से पहले यह कहना मुनासिब होगा कि ''लगे रहो'' एक निहायत बेहतरीन फिल्म है। राजकुमार हिरानी की पिछ्ली फिल्म ''मुन्नाभाई एमबीबीएस'' फूहड़ थी। उसे देखकर मैं सिर पर बाम मलते हुए घर लौटा। मेरे अजीज विनोद दुआ ने- जिन्होंने मुझे किसी पीर की तरह फिल्म देखने के लिए प्रेरित किया था- हिम्मत नहीं हारी और ''लगे रहो'' आते ही उसकी सिफारिश हाथ में थमा दी। मैं खुले दिल से, मगर नितांत पूर्वाग्रह के साथ, चाणक्य सिनेमाघर की सीढ़ियां चढ़ा और आह्लादित, हैरान, कृतज्ञ मुद्रा में नीचे उतरा। इस निष्कर्ष के साथ कि मजेदार फिल्म है। गांधीजी और उनके कुछ खयालों को प्रहसन की धुरी बनाया गया है, लेकिन असाधारण एहतियात के साथ। फिल्म अपने मकसद में बखूबी कामयाब होती है; और गांधीजी पर आंच ही नहीं आने देती, उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ाती है।

इस भाव के बाद, जाहिर है, मैंने भी कई लोगों को फिल्म देखने की सलाह दी। दीवाली पर घर गया तो पिताजी को भी, आहिस्ता कदमों के साथ, कस्बे के सिनेमाघर की तीसरी मंजिल पर ले आया जहां फिल्म के पहले शो का आगाज था। परिवार के और लोग भी साथ थे। बच्चों की फौज थी। मुन्नाभाई की हरकतों के बीच गांधी-विचार के तकाजे और अंतत: उसकी जीत पर दर्शकों की खूब तालियां बजीं। रिश्वतखोर को कपड़े उतार कर शर्मिंदा करता बुजुर्ग। पान की पीक साफ कर किसी उजड्ड की अक्ल जगाता युवक। सब हर्षित हुए। खुशी के आंसू ढलके। उन्हें पोंछा और खुश होकर घर आए।

एक मुंबइया फिल्म से इससे ज्यादा आप क्या उम्मीद कर सकते हैं! मनोरंजन भी हो और गांधीजी के कुछ उपदेश एक व्यावसायिक प्रेम-कथा में ईमानदारी के साथ पिरो दिए जाएं। निर्देशक के नाते हिरानी की यह अनूठी सफलता है। इसका लाभ उन्हें मिला और हमें- यानी आम दर्शकों को- भी।

लेकिन ''लगे रहो'' क्या क्लासिक या अमर फिल्म है? कॉमेडी की तरह ही सही। मेरे खयाल में नहीं। शायद यहीं पर फिल्म के मूल्यांकन में हमसे चूक हुई है। हमने न सिर्फ यह आसानी से भुला दिया कि फिल्म खालिस व्यापार और बुनियादी रूप से कॉमेडी थी, उसे विद्वानों तक ने गांधी-विचार (फिल्म के मवाली की भाषा में 'गांधीगीरी') की पुनर्स्थापना तक समझ लिया। गांधीजी जैसे किसी कौतुक की तरह लोगों की जुबान पर और गांधी-विचार ताबीज की तरह उनकी भुजाओं पर चढ़ गए। वक्त निकाल कर हमारे अर्थशास्त्री प्रधानमंत्री ने भी फिल्म देखी और अभिभूत हुए। फिल्म ने जितना गांधी को सरलीकृत किया- फिल्म के कलेवर को देखते जो बिलकुल वाजिब और मौजूं था- विद्वान लोगों ने गंभीर विवेचन में मानो वही सरलीकरण ओढ़ लिया। लेखों-टिप्पणियों में 'गांधीगीरी' शब्द का इस्तेमाल इतराते हुए होने लगा, फिल्म के दृश्य दृष्टांत की तरह बयान किए जाने लगे। यहां तक कहा गया कि गांधी के अनुयायी जो कभी नहीं कर सके, वह फिल्म ने कर दिखाया है। एक विचारवान समाजशास्त्री ने लिखा कि फिल्म ने हमारे सामने एक नई राजनीतिक संभावना खड़ी कर दी है, अब भी हम उसका फायदा नहीं उठा सके तो दोष हमारा होगा, मुन्नाभाई का नहीं। खबर है कि राजस्थान में एक विश्वविद्यालय ने गांधीगीरी को पाठ्यक्रम में शामिल करने का फैसला भी कर लिया है।

यह कुछ ज्यादा हो गया। अतिउत्साह में हम फिल्म को फिल्म की तरह नहीं, किसी वृत्तचित्र या गांधी-विचार के शास्त्र की तरह पढ़ गए। फिल्म के लिए दिल्ली सरकार की कर-मुक्ति या नौजवान आंदोलनकारियों- और आहत प्रेमियों- का 'गेटवेल सून' के गुलदस्ते भेंट करना शायद आई-गई बात हो

जाता। मगर हम भूल गए कि गांधी जैसे सशक्त विचार को जगाने या जमाने का जिम्मा मुंबइया फिल्म उद्योग का नहीं है, न इसमें वह कारगर साबित हो सकता है। गांधी जी का फिल्म जितना भला कर गई, फिल्म के दायरे में उससे ज्यादा भलाई की बात करना फिल्म की विधा के साथ एक तरह की ज्यादती होगी; वह हम कर भी रहे हैं।

यह आकलन होना अभी बाकी है कि ''लगे रहो मुन्नाभाई'' ने गांधीजी के कितने सच्चे और टिकाऊ अनुयायी तैयार किए। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि फिल्म की अप्रत्याशित सफलता के बाद उसके निर्माता, निर्देशक और अभिनेता अचानक गांधी-विचार के सबसे मुखर हिमायती बन गए हैं। मानो उन्होंने फिल्म गांधीजी के प्रति श्रद्धा का इजहार करने के लिए बनाई थी। ऐसा होता तो फिल्म में मुन्ना अपने 'गांधीगीरी' के आत्मज्ञान के बाद अपराधों के लिए प्रायश्चित कर रहा होता। न कि आशिकाना विरह-वेदना में मदहोश होकर विलासी सपने देखता; शादी के मामले में सही दलीलें देते हुए भी सखा सर्किट को पाखंडी ज्योतिषी पर बंदूक तानने को कहता। ज्योतिषी के कपाल पर उस वक्त बंदूक न धरी जाती तो शादी का मार्ग शायद प्रशस्त ही न होता।

यह भला किस महात्मा की कार्य-प्रणाली हुई? यह गांधीवाद नहीं है, गांधीगीरी भले हो। लकी सिंह (माफिया किरदार) 'सत्याग्रह' यानी धरने और फूलों के प्रदर्शन से झुका, यह समझना भी उत्साह का अतिरेक होगा। बेटी की शादी का मामला बीच में न फंसता तो उसका रवैया उस तरह न बदलता जैसे फिल्म में बदल जाता है। फूलों के तोड़े जाने में आप हिंसा देखें या नहीं, मुन्नाभाई की भाषा और स्वर में हिंसा फिल्म के अंत तक बनी रहती है। रेडियो पर जबरन कब्जा कर जब वह दुखियारों को सदाचार के गांधीगीर नुस्खे बांटता है, शराब के नशे में धुत होता है।

एक बिंदु और विचार के काबिल है। क्या गांधी-विचार में आस्था रखते हुए किसी माफिया हुलिए को इस तरह अल्पसंख्यक समुदाय से जोड़ा जा सकता है? माना जा सकता है कि यह महज संयोग रहा होगा। लेकिन जिस फिल्म से हम लोगों में संवेदनशीलता जगाने की अपेक्षा करें, क्या उसकी बुनियाद में समाज-सापेक्ष संवेदनशीलता अनिवार्यत: नहीं होनी चाहिए? असलियत यह है कि फिल्म में गांधीजी की लंबी उपस्थिति के बावजूद गांधी-विचार महज इक्के-दुक्के सच या फूलों तक महदूद है। मुन्ना का सत्यवाद गांधीजी का सत्याग्रह नहीं है। यह लोगों की आस्था और निर्देशक का कमाल है कि 'बंदे में था दम' पद का समूह-गान छू जाता है।

लेकिन इस भावुकता में हम फिल्म में गांधीजी के ग्राम-स्वराज, अस्पृश्यता उन्मूलन या ट्रस्टीशिप को ढूंढ़ने निकलें तो हास्यास्पद होगा। याद रखें, मुन्ना का गांधी-प्रेम उसके इश्क की तड़प थी, जो पहले छल-कपट के तौर-तरीकों में और फिर- मजबूरी में- सच, अमन या फूल-धरने में तब्दील हुई। स्वार्थसिद्धि के आगे हार कर सिद्धांतवादी बनना गांधी-निष्ठा का रूप नहीं माना जा सकता।

जाहिर है, ''लगे रहो'' में गांधीगीरी ही ज्यादा है। गांधी कम हैं। जितने हैं, हमने उससे ज्यादा उन्हें फिल्म में देखा है। अब कुछ इंतिहा हो। एक गुदगुदाने वाली आनंद-लीला में उसकी अपेक्षा ही बेजा थी। फिल्म बड़े कौशल और चातुर्य के साथ बनाई गई। सफल रही। उसका मकसद मनोरंजन था। वह उसमें और सफल हुई। जाने-अनजाने हुआ गांधी का फौरी बोलबाला फिल्म का बोनस समझिए। लेकिन अंतत: वह एक कॉमेडी ही थी।

थकान उतारने के लिए उसे मैं शायद कभी फिर देखूं!

क्या आपने ''जिन्ना'' देखी है? सार्वजनिक तौर पर देश में यह फिल्म शायद कहीं न देखी जा सकी हो। पाकिस्तान का सांस्कृतिक परिदृश्य हमारे लिए सिर्फ गजल-गायकी तक सिमटा है। इसके कुछ कारण कूटनीतिक भी हैं। सिनेमा की तरह पत्र-पत्रिकाएं इधर से उधर आ-जा नहीं सकतीं।

''जिन्ना'' आठ साल पहले बनी थी और उसकी डीवीडी पाकिस्तान में मिली। जमील देहलवी इस फिल्म के निर्देशक हैं। फिल्म साधारण-सी है। रिचर्ड एटनबरो की ''गांधी'' की उस पर छाया है। लगता है जैसे उससे

प्रेरित होकर बनी हो। ''गांधी'' पाकिस्तान में बहुत देखी गई थी। अब भी देखी जाती है। फिल्म का जवाब फिल्म से देने की मंशा रही हो या कोई और वजह, लेकिन फीचर फिल्म के नाते ''जिन्ना'' कमजोर है। इससे खास फर्क नहीं पड़ता कि फिल्म किस उद्देश्य से बनी या वह प्रोपेगेंडा फिल्म है। आखिर एटनबरो की ''गांधी'' के निर्माण में भारत सरकार ने पैसा लगाया तो उसके पीछे की साफ वजह गांधीजी की प्रतिष्ठा रही होगी। एटनबरो को इस बात का खयाल दूसरे कारणों से भी रहा होगा। लेकिन फिल्म ने गांधीजी की कमजोरियों को न छूते हुए भी उनके साथ अन्याय नहीं किया। न ही इतिहास के साथ। उसने दुनिया में गांधीजी का नाम बढ़ाया। फीचर फिल्म के नाते ''गांधी'' की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण वे आठ ऑस्कर प्रतिमाएं हैं, जिन्होंने फिल्म को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ फिल्मों की बगल में जगह दिलाई।

''गांधी'' को आठ ऑस्करों के अलावा सत्ताईस दूसरे पुरस्कार मिले थे। ''जिन्ना'' एक पुरस्कार नहीं जीत सकी। काहिरा फिल्म समारोह में उसे एक पुरस्कार जरूर नामित हुआ, पर मिला नहीं। पुरस्कार के बगैर फिल्म अच्छी हो सकती है, इस खयाल से और कुछ जिन्ना की शख्सियत के प्रति हंस-छाप सद्भाव के साथ, आप फिल्म बार-बार देखें तब भी ऐसा कुछ हाथ नहीं लगता जो लंबे अरसे तक याद रहे। यानी जिसकी दृश्यात्मक छवि आपके मन पर अंकित हो। पूरी फिल्म में कुछेक दृश्य ही ऐसे हैं, जिनकी कल्पना और प्रस्तुतीकरण असरदार है। जैसे कि फिल्म की शुरुआत, जहां पहाड़ पर स्वास्थ्य लाभ कर रहे टीबी-पीड़ित जिन्ना को विमान से कराची लाया जाता है और रास्ते में उनकी एंबुलेंस जवाब दे जाती है। जिन्ना की सांसें बुझ रही हैं और सड़क के दोनों तरफ बंटवारे से बेघर हुए विस्थापितों के काफिले चल रहे हैं।

दरअसल, पूरी फिल्म जिन्ना के व्यक्तित्व को दुनिया में तर्कसंगत ढंग से रखने की मशक्कत भर लगती है। इस वजह से फिल्म की पटकथा कमजोर हो चली है। पटकथा की बुनियाद पर ही फिल्म तामीर होती है। यहां पटकथा में एक मकसद है जो वक्त-बेवक्त हावी होता रहता है और फिल्म में जान नहीं आने देता। नाटक की तरह फिल्म में एक सूत्रधार (शशि कपूर) है। उसके समक्ष जिन्ना (क्रिस्टोफर ली) अपने व्यक्तित्व को खुद खोलते हैं। इस प्रक्रिया में फिल्म जिन्ना के निजी और राजनीतिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का खुलासा कम, सफाई ज्यादा लगने लगती है। मसलन, शुरू में ही जिन्ना कहते हैं, ''और कोई रास्ता नहीं था।'' आगे यह बात बार-बार आती है। माउंटबेटन (जेम्स फॉक्स) गांधीजी (सैम दस्तूर) के हवाले से उन्हें प्रधानमंत्री पद की पेशकश करते हैं। जिन्ना का संवाद: ''ये चाल है बड़ी, फंस जाऊं उनके जाल में! हिंदुओं के तीन वोट के सामने हमारा एक वोट होगा। आखिर क्यों मानेंगे जम्हूरियत में? हमारी तहजीब अलग है... जुदा होना ही बेहतर है।''

जिन्ना के व्यक्तित्व को दोष रहित चित्रित करने की जद्दोजहद में फिल्म न इतिहास को ठीक से छूती है, न उनकी निजी जिंदगी को। उन्हें कई दफा मुस्कुराते और खिलखिलाते दिखाया गया है। यह उनकी जानी-पहचानी छवि में सुधार का काम है। हंसते हुए उनकी सिर्फ एक तस्वीर मिलती है, जब गांधीजी उनके कंधे पर हाथ रखते हुए फोटो के लिए मुखातिब हुए थे। ऐसे ही, फिल्म में जिन्ना एहतराम से नमाज पढ़ते हैं। सब जानते हैं, उन्हें नमाज पढ़ना नहीं आता था। उसे उन्होंने आखिरी वक्त में सीखा। शराब उनका रोज का व्यसन था; फिल्म इस पहलू को वैसे ही गोल कर जाती है जैसे एटनबरो की ''गांधी'' गांधीजी के संयम के प्रयोगों को।

सोलह वर्षीय रतनबाई (रत्ती) से अंतर्जातीय प्रेम-विवाह और बेटी दीना (बाद में बॉम्बे डाइंग वाले नुस्ली वाडिया की मां) के जिन्ना द्वारा तिरस्कृत प्रेम-प्रसंग के विवाद को तफसील में दिखाया गया है। सार यह प्रदर्शित है कि रत्ती ने इस्लाम कबूल किया, वाडिया इसके लिए तैयार नहीं हो सकते थे। यहां दोनों प्रसंगों में जीवंत ब्योरों के चित्रण की बहुत गुंजाइश थी, फिल्म में वह कहीं खो कर रह गई। रत्ती को शादी के बाद वाचाल और पार्टियों में शिरकत की शौकीन दरसाया गया है, जो जिन्ना को नागवार गुजरा।

रत्ती और दीना से बुरा सलूक फिल्म नेहरू (राबर्ट एशबी) के साथ करती है। उन्हें तथ्यों के साथ विवादास्पद चित्रित किया जा सकता था, जैसे कि ''गांधी'' में एटनबरो ने- हालांकि ज्यादती करते हुए- जिन्ना को मनहूस मुद्रा में ला खड़ा किया था। जमील देहलवी नेहरू-एडविना के प्रसंग को खींच कर उसे बंटवारे की जड़ के करीब पहुंचा देते हैं। बंद कमरे में एडविना (मारिया एटकेन) माउंटबेटन पर नेहरू की ताजपोशी के लिए जोर डाल रही है; बाहर जिन्ना फिल्म के सूत्रधार को यह 'वार्तालाप' सुनवा रहे हैं!

फिल्म में सबसे कमजोर पात्र हैं गांधी। उनके व्यक्तित्व को छुआ तक नहीं जा सका है। कहना मुश्किल है कि यह अभिनेता का कसूर है या निर्देशक का जतन। गांधीजी का हुलिया कुछ ऐसा है कि कभी वे लक्ष्मण का कार्टून नजर आते हैं और कभी लालकृष्ण आडवाणी का कैरिकेचर। उर्दू संस्करण में आवाज हू-ब-हू आडवाणी से मिलाई है। मूंछें और खिसियानी हंसी भी आडवाणी की है। फिल्म का मूल भाव गांधी के विरुद्ध नहीं है; लेकिन फिल्म उन्हें विचित्र अंदाज में पेश करती है। ''कभी झूठ नहीं सुना उनके मुंह से; पर सियासी तौर पर सच कहने से गुरेज करते थे।'' बेहतर इंसान बताते-न-बताते फिल्म उनके सिद्धांतों को उड़ाने लगती है। जिन्ना कहते हैं: ''मिस्टर गांधी एक गैर-मामूली आदमी हैं... मगर उसका अंदाज, दिखावा हिंदू मेहनतकशों का- एक पुराना चरखा, फाके, अहिंसा, सत्याग्रह; वह एक तूफान को दावत दे रहा है।''

निर्देशन और पटकथा (जमील के साथ अकबर अहमद) के मामले में फिल्म भले कमजोर हो, उसके बाकी पहलू जरूर असरदार हैं। खासकर संगीत (निजेल क्लार्क) और चित्रांकन (निकलस नोलैंड)। अभिनय में शिरीन शाह (फातिमा जिन्ना), इंदिरा वर्मा (रत्ती) और मार्क जुबैर (इकबाल) का काम मुझे पसंद आया। लेकिन भूमिका के साथ सबसे ज्यादा न्याय किया है जिन्ना के रूप में क्रिस्टोफर ली ने। उर्दू में उन्हें फबती आवाज शायद अमरीश पुरी की है, हालांकि फिल्म में इसका जिक्र नहीं है।

दिलचस्प बात है कि फिल्म में क्रिस्टोफर ली को लेने पर पाकिस्तान में बहुत बवाल मचा था। वजह? क्रिस्टोफर ली हमेशा अपनी 'ड्रेकुला' की भूमिकाओं के लिए जाने जाते रहे। पिशाच की भूमिका करने वाले अभिनेता को आखीर में दर्शक कायदे-आजम के किरदार में स्वीकार कर लें, इसे ली के अभिनय की ताकत ही मानना चाहिए!